

**International Journal of Innovative Research in Science,
Engineering and Technology**

(An ISO 3297: 2007 Certified Organization)

Vol. 4, Issue 12, December 2015

प्रेमचंद की कहानियों का समाजशास्त्रीय अध्ययन

Vijendra Prasad Meena

Assistant Professor, Dept. of Hindi, SPNKS Government PG College, Dausa, Rajasthan, India

सार

हमारे साहित्य में 'दलित अनुभव की खोज' एवं दलित पात्रों की गतिविधियों के चित्रण एवं प्रतिस्थापन के प्रयास को समकालीन हिंदी साहित्य के विकास की विशिष्ट स्थिति मानी जानी चाहिए। ऐसे किसी भी प्रयास की यह मांग स्वभाविक है कि हमारे 'क्लासिकल' साहित्य भंडार में यदि किसी जाति-विशेष को लेकर कुत्सित प्रतिस्थापनाएं एवं दृष्टिकोण विद्यमान हैं तो उन्हें आलोचनात्मक ढंग से विश्लेषित किया जाये। ऐसे कुछ प्रयास किये भी जा रहे हैं। इनका हिन्दी के प्रतिष्ठित कथाकार एवं परिवर्तनकारी विचारक प्रेमचंद से जुड़ना भी काफी स्वभाविक सा है। आलोचना के क्षेत्र में इन प्रयासों ने दो दृष्टिकोणों को हमारे सामने रखा है। एक खेमा डा. धर्मवीर व अन्य के नेतृत्व में प्रेमचंद पर दलित पात्रों के-विशेषतः 'कफन' कहानी (१९३५-३६) का हवाला देते हुए-लम्पटीकरण और सामंती मूल्यों एवं वर्णव्यवस्था की पक्षधरता का आरोप लगाता है। दूसरा खेमा प्रेमचंद की कहानियों को यथार्थवादी और संभवतः प्राकृतिकवादी मानते हुए माधव एवं घिसू जैसे पात्रों के व्यवहार की 'एतिहासिक भौतिकवादी' व्याख्या प्रस्तुत करता है। साथ ही यह आग्रह करता है कि दलित जीवन से जुड़ी प्रेमचंद की अन्य सराहनीय एवं अंतर्दृष्टिपूर्ण कहानियों को भी बहस का आधार बनाया जाए। राजीव रंजन गिरि के संपादन में आया 'घासवाली: प्रेमचंद की दलित जीवन से जुड़ी कहानियों का संकलन' इस दिशा में एक महत्वपूर्ण प्रयास है। इस संकलन की समीक्षा करते हुए मैं अपने विचार दो बातों पर केन्द्रित करूंगा। पहला, राजीव रंजन गिरि लिखित प्रस्तावना के आलोचनात्मक मूल्यांकन पर और दूसरा, प्रेमचंद की संकलित कहानियों की समाजशास्त्रीय विवेचना पर। पहला महत्वपूर्ण सवाल इस संदर्भ में यह है कि प्रेमचंद की कहानियों में 'दलित' का अर्थ क्या है? यह संकलन 'दलित' शब्द की वर्तमान जातीय पहचान एवं सरकारी अनुसूचिका में प्रस्तुत अर्थ पर आधारित दिखता है। इसके अनुसार सरकारी आंकड़े में अनुसूचित जाति शीर्षक से संकलित जातियां ही मात्र भारतीय समाज का 'दलित' समुदाय है। लेकिन हमारा सवाल इस अर्थ में महत्वपूर्ण है कि 'दलितों' का राजनीतिक-सामाजिक दर्शन शोषित, दमित और हाशियाकृत सामाजिक समूह की ओर इशारा करता है। उल्लेखनीय है कि १९६० के दशक में दलित शब्द अपने इसी अर्थ में भारतीय राजनीतिक संस्कृति से उत्पन्न हुआ था। अनुसूचित जाति में संकलित जातियों की सूची बनती-घटती-बढ़ती रही है। प्रायः १९५० एवं इसके बाद से। ऐसे में इस सवाल के जवाब का अभाव संपादकीय दृष्टि की एक कमी मालूम होती है। प्रस्तुत कहानियों के अध्ययन से प्रेमचंद में १९११ से १९३६ के बीच दलितों के तीन अर्थों का विकास दिखता है। शुरूआती कहानियों में वे सिर्फ अछूतों को केन्द्र में रखते हैं। १९२६-२७ की 'कजाकी' और 'मंदिर' कहानियों से आगे कुछ गैर-अछूत शोषित-दमित और विभेदीकृत जातियां भी शामिल होती हैं। १९३१ आते-आते उनकी 'लांछन' कहानी में बबुआइन देवीरानी जैसी महिला भी किसी दलित से भिन्न नहीं दिखती हैं। वस्तुतः इस कहानी में मुन्नु मेहतर की तुलना में देवीरानी 'दलित' जीवन की परिभाषा के कुछ ज्यादा अनुकूल दिखती है।

International Journal of Innovative Research in Science, Engineering and Technology

(An ISO 3297: 2007 Certified Organization)

Vol. 4, Issue 12, December 2015

परिचय

प्रेमचंद की कहानियों में 'दलित' के माने की खोज से जुड़ा दूसरा अहम् सवाल है : उनकी कहानियों में दलित सवाल एवं समस्या क्या है? इस पर भी यह संकलन प्रायः चुप-सा दिखता है। हम देखते हैं कि उनकी शुरूआती कहानियों में महज छुआछूत जैसी हिंदू समाज की नैतिक बुराई 'दलित समस्या' है, और हिंदू समाज का सुधार एवं छुआछूत का अंत ही बड़ा दलित सवाल है। उल्लेखनीय है कि यह समस्या और सवाल इन कहानियों में विशिष्ट रूप से अभिजात जातियों के सुधारवादी आंदोलन के प्रश्न मात्र हैं। इन कहानियों के केन्द्रीय पात्र भी ऐसे ही व्यक्तित्व रहे हैं।[1,2]

जहां १९२४ के 'सौभाग्य के कोड़ों से', 'दमन' और १९२७ के 'मंदिर' एवं १९२९ की 'घासवाली' से मंदिर प्रवेश के जरिये 'स्वतंत्रता' और 'सम्मानपूर्ण जीवन' का अधिकार महत्वपूर्ण प्रश्न बनता है। इन कहानियों में दलित पात्र भी कहानी के केन्द्र में आते हैं। जबकि, १९३४ की 'दूध का दाम', १९३५-३६ की 'कफन' और १९३१ की 'जुरमाना' में गरीब श्रमिक के रूप में दलितों के शोषण एवं वर्गीय शोषण से मुक्ति दलित समस्या एवं सवाल के रूप में सामने आते हैं। यहां दलितों का अपनी परिस्थिति में बदलाव के लिए किया गया प्रयास प्रेमचंद के लिए आलोचनात्मक विश्लेषण का विषय रहा है। ऐसे में किसी भी 'आमूलचूल परिवर्तनकारी प्रयास और इसकी दृष्टि का अभाव' विचारणीय दलित प्रश्न व समस्या बनता हुआ दिखता है और तभी प्रेमचंद 'कफन' में व्यंग्यात्मक शैली में लिखते हैं 'हम तो कहेंगे, घीसू किसानों से कहीं ज्यादा विचारवान था, और किसानों के विचारशून्य समूह में शामिल होने के बदले बैठकबाजों की कुत्सित मंडली में जा मिला था।' (कफन, पेज १६३)

पुस्तक-सम्पादक का विचार है कि जहां आरम्भिक कहानियों में अछूतोद्धार जैसी आर्यसमाज की समाज-सुधारक दृष्टि का प्रभाव है वहीं १९२० के दशक एवं इसके बाद की कहानियों में डा. अम्बेडकर की अपेक्षा प्रेमचंद गांधी के विचारों के ज्यादा करीब हैं (बजाए गांधी के अछूतोद्धार आह्वान के)। लेकिन सम्पादक की दूसरी समझ प्रेमचंद की १९२७ की 'मंदिर' और १९२९ की 'घासवाली' और इसके बाद की कहानियों पर शायद ही लागू होती है। उदाहरण के लिए, इस समय से प्रेमचंद दलित समस्या को दलित पात्रों की गरीबी की समस्या एवं उनकी सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों को जातिभेद के प्रबल कारक के रूप में देख रहे थे। जबकि, गांधी १९३२-३३ में भी दलित सवाल पर अछूतोद्धार से आगे नहीं बढ़ पाये थे। उल्लेखनीय है कि १९३५-३६ की कहानियां 'कफन' और 'जुरमाना' एवं १९३४ की 'दूध का दाम' में वर्गीय शोषण और शोषणकारी श्रम संबंध कहीं बड़ी दलित समस्या के रूप में चिह्निता किये गये हैं। इसी आधार पर इस समय दलित समस्या के समाधान के बतौर-अपने शुरूआती सुधारवादी तरीके से आगे बढ़ते हुए-सम्पूर्ण सामाजिक-आर्थिक और श्रम संबंधों में प्रेमचंद आमूलचूल परिवर्तन की जरूरत का संकेत देते नजर आते हैं। इन्हीं अर्थों में वह शुरूआत के आलोचनात्मक यथार्थवादी साहित्यकार से संरचनावादी 'समाजवादी' साहित्यकार के रूप में विकसित होते हुए दिखते हैं। [3,4] अतः प्रेमचंद दलित समस्या और सवाल पर गांधी से कहीं पहले और गांधी की सुधारवादी सीमाओं से कहीं आगे परिवर्तनकारी 'समाजवादी' व्यवस्था को समाधान के रूप में देखते हैं। जहां तक अम्बेडकर की बात है, वह भी १९३० के मध्य तक एक ओर जाति विनाश और दूसरी ओर 'सेपरेट इलेक्ट्रेट' की मांग के तहत जाति के आधुनिक रूप में गठन के दर्शन तक पहुंच पाये थे। मैं प्रेमचंद की संरचनावादी दृष्टि की सीमा की चर्चा इस लेख के अंतिम हिस्से में करूंगा।

संकलन के सम्पादक ने सही ही कहा है कि प्रेमचंद के दलित पात्रों का वैचारिक विकास हुआ है। 'सद्गति' (१९३०-३१) के 'दुखी' की तुलना में 'घासवाली' (१९२९), 'कफन' (१९३५-३६) के पात्र शोषणकारी चक्र को समझते हैं, प्रतिरोध करते हैं और चुनौती देते हुए नजर आते हैं। जबकि, पुस्तक की प्रस्तावना में उस वैचारिक विकास-उभरते प्रतिरोधों एवं चुनौती देने के प्रयासों को अर्थात् दलित मुक्ति संघर्ष की दिशा और स्वरूप के विश्लेषण का अभाव शिद्दत से महसूस किया जा सकता है। वस्तुतः 'घासवाली' (१९२९) की मुलिया, 'ठाकुर का कुआं' (१९३१) की गंगी, 'दूध का दाम' (१९३४), 'कफन' (१९३५-३६) के माधव और घीसू के प्रतिरोधों की दिशा और स्वरूप अलग-अलग दिखते हैं, वरन् मुलिया का प्रतिरोध जहां सशक्त, चुनौतीपूर्ण ढंग से स्वतंत्र

International Journal of Innovative Research in Science, Engineering and Technology

(An ISO 3297: 2007 Certified Organization)

Vol. 4, Issue 12, December 2015

व सम्मानपूर्ण जीवन के लिए था, वहीं माधव और घीसू की चुनौती प्रतिगामी अल्पकालिक मस्ती भरे जीवन की राह की ओर ले जाता है और सम्पादक द्वारा ऐसे प्रतिरोध का उत्सवीकरण और इसे दलित जीवन के विशिष्ट अनुभव से जोड़ना शायद ही सराहनीय लगे।

संपादक का यह मत उचित है कि 'प्रेमचंद की इन कहानियों में जो दलित पात्र हैं, उनमें पुरुषों की अपेक्षा यिं ज्यादा साहसी एवं जुझारू हैं।' इसकी व्याख्या संपादक शोषण की सीमा और प्रतिरोध की चेतना के बीच सीधा संबंध मानकर करते हैं। लेकिन, यह एक अहम् सवाल है कि 'घासवाली' की मुलिया के अलावा अन्य शोषित यिं की चुप्पी या गैरप्रतिरोधपूर्ण स्थिति का कारण बताने में यह व्याख्या बताने में असमर्थ क्यों है? दूसरे शब्दों में क्या हमें मुलिया के प्रतिरोध को 'विलक्षण' सा मान किसी अन्य ठोस व्याख्या की जरूरत नहीं है? दरअसल, समाजशास्त्रीय अध्ययन में शोषण एवं प्रतिरोध की चेतना के बीच स्थापित संबंधों की व्यापक जांच-पड़ताल की जरूरत है।[5,6]

लेख के इस हिस्से में मैं पुस्तक की प्रस्तावना से अपना ध्यान हटाते हुए प्रेमचंद की इन कहानियों के राजनीतिक एवं दार्शनिक पक्ष की विवेचना करना चाहता हूं। आज विद्वानों में अमूमन सहमति है कि प्रेमचंद का वैचारिक पक्ष शुरूआती दौर में 'विचारवाद' एवं 'व्यवहारवाद' के करीब था। कुछ लोग गलती से इसे प्रेमचंद का गांधीवादी चरण मानते हैं, क्योंकि १९११-१३ की उनकी कहानियों पर शायद ही अमूर्त गांधीवादी सुधारवाद एवं विचारवाद का प्रभाव हो। १९२७ की 'मंदिर' १९३०-३१ की 'सद्गति' और इसके बाद की कहानियों में प्रेमचंद, जैसा कि मैंने पहले भी कहा है, समाजवादी-संरचनावादी विचारक के रूप में विकसित होते हुए दिखते हैं। संपादक की धारणा के विपरीत मैं समझता हूं कि १९३२ की 'ठाकुर का कुआं' से आगे प्रेमचंद भारतीय समाज के आर्थिक संबंधों-व्यवस्था को सामाजिक-जातीय शोषण की धुरी भी समझने लगे थे।

अपने विश्लेषण में प्रेमचंद समकालीन समाजवादी-साम्यवादी लोगों से एक मामले में आगे भी दिखाई देते हैं। इस समय के समाजवादी-साम्यवादी जहां 'आर्थिक नियतिवाद' की धारणा के शिकार थे, वहीं प्रेमचंद १९३२ से १९३६ के बीच की कहानियों में मानव का अपने भविष्य, इतिहास निर्माण के प्रयास और इन प्रयासों की सफलता-असफलता को भी मानव की जीवन दशा के लिए जिम्मेदार, स्वतंत्र और एकमात्र कारक के रूप में चिन्हित करते हैं। उल्लेखनीय है कि इस दार्शनिक मत को १९६० के दशक में फ्रांसीसी संरचनावादी 'अलयूजर' के वरक्स ब्रिटिश इतिहासकार-सिद्धांतकार ई.पी. थाम्पसन ने रखा था (पॉवर्टी ऑफ थ्योरी- ई.पी. थाम्पसन)।[7,8]

इस अंतर्दृष्टि के बावजूद प्रेमचंद के विश्लेषण एवं वैचारिक आधार की एक गंभीर सीमा भी इन कहानियों में मौजूद है। संपादक प्रस्तावना के पहले पृष्ठ पर कहते हैं कि दलितों का तबका दोहरी गुलामी अंग्रेजी सत्ता और ब्राह्मणवाद झेल रहा था। लेकिन, वह इस बात पर मौन है कि किस प्रकार दोनों प्रकार की गुलामी के तंत्र एक-दूसरे से गुंथे थे या ब्राह्मणवादी गुलामी का राजनीतिक गठन कैसा था? औपनिवेशिक गुलामी किस प्रकार ब्राह्मणवादी गुलामी को संरक्षण प्रदान कर रहा था? क्या दोनों एक-दूसरे को मजबूती नहीं प्रदान कर रहे थे? इस महत्वपूर्ण राजनीतिक-आर्थिक पहलू का अभाव इस पुस्तक में उपलब्ध प्रेमचंद की कहानियों की अप्सोसजनक कमी है। संभवतः इस विश्लेषण की अनुपस्थिति प्रेमचंद के दलित पात्रों की किसी राजनीतिक तैयारी की गैर मौजूदगी की ओर भी इशारा करता है। जबकि, हम जानते हैं कि १९३० के दशक के पूर्वार्ध में भी दक्षिण भारत और बिहार के सारण जिले में दलित राजनीतिक लामबंदी की ओर बढ़ रहे थे। ऐसे में कोई यदि यह आरोप लगाता है कि प्रेमचंद के तथाकथित विद्रोही दलित पात्र शायद ही मजबूत एवं प्रभावशाली विद्रोही एवं विचारक के रूप में नजर आते हैं, तो यह गलत नहीं लगता है। ऐसा प्रतीत होता है कि १९३४ से १९३६ की कहानियों में प्रेमचंद पूर्वी उत्तर प्रदेश के दलित समाज और किसान समाज के भीतर अपनी स्थिति में परिवर्तन के लिए किये जा रहे प्रयासों की खोज करते हैं, लेकिन उनकी 'निराशा' कफन में किसानोंके 'विचार शून्य समूह' के उपर व्यंग्यात्मक टिप्पणी के रूप में सामने आती है।[9,10] अब सवाल यह उठता है कि क्या प्रेमचंद की यह निराशापूर्ण विवेचना 'यथार्थवादी' है या कहानीकार का 'व्यक्तिवादी' विमर्श

International Journal of Innovative Research in Science, Engineering and Technology

(An ISO 3297: 2007 Certified Organization)

Vol. 4, Issue 12, December 2015

है? जो विद्वान प्रेमचंद पर 'कफन' का हवाला देते हुए-दलित पात्रों के लम्पीकरण और सामंती मूल्यों के पक्षधर होने का आरोप लगाते हैं, वे वस्तुतः प्रेमचंद की इन कहानियों को 'गैर-यथार्थवादी' और 'व्यक्तिवादी' विमर्श बताते हैं। सामंती मूल्यों की पक्षधरता का आरोप कफन कहानी के संदर्भ में गैरप्रासंगिक और महज उत्तेजनापूर्ण लगता है। लेकिन यदि हम मानते हैं कि प्रेमचंद की ये कहानियाँ यथार्थवादी हैं, तो क्या यह १९३० के पूर्वार्ध के किसान एवं दलित समाज के राजनीतिक-वैचारिक चरित्र का प्रमुख पक्ष प्रस्तुत करता है? प्रेमचंद के सही मूल्यांकन के लिए विद्वानों द्वारा इस सवाल के व्यापक जांच-पड़ताल की जरूरत है। अभी तो इस संबंध में प्रेमचंद के पक्ष में इतना ही कहा जा सकता है कि उनके ईद-गिर्द के पूर्वी उत्तर प्रदेश का दलित-कृषक समाज शायद उनकी नजर में क्रांतिकारी अंगड़ाई नहीं ले रहा था और इस स्थिति को प्रेमचंद ने अपनी अंतिम कहानियों में-खासकर 'कफन' में-कुछ निराशापूर्ण ढंग से सामने रखा है।[11,12]

विचार-विमर्श

"भारत में कुछ लोग हैं जो मेरी तुलना करते हैं निराला जी या प्रेमचंद से किन्तु मैं सोचता हूँ जहाँ तक मेरी पहचान है मैं अभिमन्यु अनंत ही हूँ। सत्य तो यह है कि मेरे ऊपर जो सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है वह किसी साहित्यकार का नहीं वरन् मॉरिशस के जन-जीवन का है। मैं खुद मजदूर रहा हूँ। के लिए अभिव्यक्ति शुरू की। डॉ. कमल किशोर गोयनका हिंदी साहित्य जगत में प्रेमचंद विशेषज्ञ के रूप में अपनी एक अंतरराष्ट्रीय छवि निर्मित कर चुके हैं। उन्होंने देश विदेश में प्रेमचंद के व्यक्तित्व एवं उनके सम्पूर्ण साहित्य के मर्मज्ञ आलोचक और आधिकारिक विद्वान के रूप में ख्याति अर्जित की है। प्रेमचंद साहित्य की अधिकांश पाण्डुलिपियों के वे संग्राहक एवं संरक्षक हैं। उन्होंने अपना सारा जीवन प्रेमचंद साहित्य के अध्ययन, अध्यापन एवं शोध को ही समर्पित किया है। प्रेमचंद साहित्य के विविध पक्षों पर उनके द्वारा रचित आलोचनात्मक ग्रंथ प्रेमचंद साहित्य को समग्र रूप से समझने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। वे एक मात्र ऐसे प्रेमचंद विशेषज्ञ हैं जिन्होंने प्रेमचंद विश्वकोश की पाँच खंडों में रचने की परिकल्पना की और इस चुनौतीपूर्ण कार्य को संपन्न करने का बीड़ा उठाया। इस विश्वकोश के दो खंड प्रकाशित हो चुके हैं शेष तीन खंड प्रकाशनाधीन हैं। निजी कठिन संघर्षपूर्ण प्रयासों से वे अपने जीवन के इस एकीकृत लक्ष्य को साधने में लगे हुए हैं। उनका प्रेमचंद प्रेम, प्रेमचंद साहित्य संबंधी सामग्री के संचयन एवं समर्पित आलोचना दृष्टि से स्वतः सिद्ध हो जाता है। वर्तमान में वे केंद्रीय हिंदी शिक्षण मण्डल के उपाध्यक्ष के पद पर कार्यरत हैं। इस पद पर डॉ. कमल किशोर गोयनका के मनोनयन लिए भारत सरकार विशेष रूप से अभिनंदनीय है।[13,14]

डॉ. कमल किशोर गोयनका द्वारा प्रेमचंद साहित्य के विविध पक्षों पर रचित विशाल आलोचनात्मक ग्रंथों की शृंखला में 'प्रेमचंद की कहानियों का कालक्रमानुसार अध्ययन' एक महत्वपूर्ण वृहत्तम विश्लेषणात्मक शोध का परिणाम है। प्रेमचंद की संपूर्ण कहानियों के कालक्रमानुसार अध्ययन का यह एकमेव प्रथम प्रयास है। इससे पूर्व किसी आलोचक ने इस दृष्टि से कहानियों को कालक्रम में पढ़ने तथा परखने की चेष्टा नहीं की है। प्रेमचंद की कहानियों को उनके रचनाक्रम में परखने से तत्कालीन सामाजिक स्थितियों के क्रमिक विकास या ह्रास के प्रति प्रेमचंद की सोच को समझा जा सकता है। समय के साथ-साथ भारतीय ग्रामीण एवं नगरीय जीवन में परिवर्तन होते रहे, जिन्हें प्रेमचंद ने अपनी कहानियों में प्रसंगानुकूल कथानकों के द्वारा प्रस्तुत किया। प्रेमचंद ने जिस रूप में अपनी कहानियों में ग्रामीण पात्रों को गढ़ा, इसका आकलन रचना काल की पृष्ठभूमि में ही सही रूप में संभव है। प्रेमचंद के मध्य वर्गीय और निम्न वर्गीय पात्रों की परिकल्पना के पार्श्व में 'रचना-समय' के परिवेश प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। इस सूक्ष्मता की जाँच करने के लिए डॉ. कमल किशोर गोयनका का प्रस्तुत ग्रंथ एक उपयोगी साधन है। निश्चित रूप से हर रचना पर रचना-समय एवं उस रचना के क्षण विशेष में रचनाकार की मानसिकता रचना में प्रतिबिंबित होती है। इसका आकलन प्रस्तुत ग्रंथ का प्रतिपाद्य है जिसे डॉ. कमल किशोर गोयनका ने अपनी विशेष आलोचना दृष्टि से रेखांकित किया है। लेखक की यह स्थापना महत्वपूर्ण है कि "प्रेमचंद के 'मानसरोवर' के आठ खंडों में भी कहानियाँ कालक्रमानुसार संकलित नहीं हैं, अतः किसी भी आलोचक के लिए कालक्रम से कहानियों के अध्ययन की कोई संभावना नहीं रह गई थी। अतः कहानियों पर दिए गए उनके निष्कर्ष एवं आलोचनात्मक अवधारणाएँ भी निर्मूल, निरर्थक तथा भ्रमोत्पादक बनाकर रह जाती हैं।"

International Journal of Innovative Research in Science, Engineering and Technology

(An ISO 3297: 2007 Certified Organization)

Vol. 4, Issue 12, December 2015

'प्रेमचंद की कहानियों का कालक्रमानुसार अध्ययन' पहला प्रामाणिक अध्ययन है, जो प्रत्येक कहानी को कालक्रम में देखता है और परखता है। यह कहानी के पूर्वापर संबंधों के रहस्यों को उद्घाटित करता है। प्रेमचंद द्वारा रचित प्रत्येक कहानी को प्रस्तुत अध्ययन में समान महत्त्व दिया गया है। प्रस्तुत आकलन में हर कहानी की संवेदना, उसकी आत्मा तथा लेखकीय दृष्टिकोण का विस्तृत विवेचन किया गया है। प्रेमचंद की उपलब्ध 298 कहानियों की रचना-प्रक्रिया, उनकी मूल चेतना, उनके युग संदर्भ, तथा लेखकीय अभिप्रेत की, कहानी के पाठ के आधार पर समीक्षा की गई है तथा इसमें पुरानी मान्यताओं की परीक्षा के साथ कुछ नई अवधारणाएँ प्रमाणों, तथ्यों एवं तर्कों के आधार पर स्थापित की गई हैं। प्रेमचंद कथा साहित्य के अध्येताओं एवं शोधार्थियों के लिए यह ग्रंथ आवधारणात्मक मौलिक दृष्ट प्रदान करता है।[15,16]

परिणाम

आदिकाल में मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समूह में रहता था, उसके आपसी व्यावहार एवं सम्बन्धों से समाज का निर्माण हुआ और वह एक सामाजिक प्राणी कहलाया। इसीलिए मैकाइवर एवं पेज ने सामाजिक सम्बन्धों के जाल को समाज कहा है। समाजशास्त्र समाज के समस्त सन्दर्भों, समस्याओं एवं पहलुओं का क्रमबद्ध अध्ययन करनेवाला विज्ञान है। ऑगस्ट कॉम्ट को समाजशास्त्र का जनक माना जाता है, इन्होंने सन् 1838 में इस शब्द का प्रयोग किया। हालांकि उन्होंने पहले 'सोशल फिजिक्स' कहा बाद में इसे समाजशास्त्र के नाम से स्वीकार किया गया। लैटिन शब्द Socius(समाज) और ग्रीक शब्द Logos (विज्ञान या अध्ययन) से अंग्रेजी शब्द Sociology बना है, इसे ही समाजशास्त्र कहा जाता है। समाजशास्त्र की विषयवस्तु की महत्ता एवं उपयोगिता, क्षेत्र की व्यापकता आदि के कारण समाजशास्त्रियों के लिए सर्वसम्मति से कोई एक परिभाषा दे पाना कठिन है।

उपर्युक्त ढंग से परिभाषाओं का सरलीकरण करते हुए भी समाजशास्त्र के स्वरूप, महत्ता और उसकी व्यापकता का पता चलता है। समाजशास्त्र सामाजिक अन्तःक्रियाओं और सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन-विश्लेषण करता है। समाजशास्त्र मनुष्य और समाज के विविध संगठनों, समुदायों, संस्थाओं, प्रक्रियाओं, संदर्भों, संघर्षों, परिवर्तनों, समस्याओं और समाधानों, का विवेचन करता है। मानव अर्जित ज्ञान को प्रायः दो मुख्य भागों में विभक्त किया गया है – एक, प्राकृतिक या विशुद्ध विज्ञान, (भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, जीव विज्ञान आदि) और दो, सामाजिक विज्ञान (राजनीति शास्त्र, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र आदि)। आधुनिक समाजशास्त्र का इतिहास भले ही पुराना न हो किन्तु उसका सम्बन्ध तो मानवजाति के अस्तित्व और विकास से जुड़ा है। साहित्य और समाज का सम्बन्ध मनुष्य की आदिम अवस्था से है। कालान्तर समाजशास्त्र विकसित हुआ, इसकी पूर्णता, स्वतंत्रता, उपयोगिता, कार्यक्षेत्र आदि की महत्ता साबित करने के लिए प्रयास हुए। समाजशास्त्र के जनक ऑगस्ट कॉम्ट ने समाजशास्त्र और अन्य सामाजिक विज्ञानों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं माना है। साहित्य और समाजशास्त्र, साहित्य का समाजशास्त्र, और समाजशास्त्र का साहित्यिक विवेचन को लेकर विशुद्ध समाजशास्त्रियों एवं साहित्यकारों में मतभेद हैं। समाजशास्त्री हरबर्ट स्पेन्सर (1820-1903) और इमाइल दुर्खीम (1858-1917) ने समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र को व्यापक मानते हुए ज्ञान के समाजशास्त्र, विज्ञान के समाजशास्त्र और कला के समाजशास्त्रीय विश्लेषण को समाजशास्त्र की विषयवस्तु में सम्मिलित किया है।[17,18]

समाजशास्त्र में पद्धति का प्रयोग, तथ्यों का वर्गीकरण एवं विश्लेषण, सिद्धांत-निर्माण एवं परीक्षण, कार्य-कारण सम्बन्धों का विवेचन होता है, वहाँ क्षेत्र कार्य (Field-work) के लिए अवकाश अधिक होता है। साहित्य में पहले इस प्रकार के कार्य होते थे, आधुनिक युग में भी कमोबेश हो रहा है। जार्ज ग्रियर्सन, सुनीत कुमार चटर्जी, भोलानाथ तिवारी, कामता प्रसाद गुरु, आचार्य हजारी प्रसाद, राहुल सांकृत्यायन, रेवा प्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र

International Journal of Innovative Research in Science, Engineering and Technology

(An ISO 3297: 2007 Certified Organization)

Vol. 4, Issue 12, December 2015

शुक्ल, रामनरेश त्रिपाठी, के.का.शास्त्री आदि विद्वानों की सूची लम्बी है, जिन्होंने आदर्शात्मक शोध-कार्य किए। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कबीर का अध्ययन कबीर के समयकाल और तत्कालीन समाज एवं स्थितियों को समझ कर किया। साहित्य के समाजशास्त्र का स्तरीय अध्ययन करने के लिए 'टेबल वर्क' के साथ 'फील्ड वर्क' की भी आवश्यकता होती है। सामाजिक समस्याओं- (बेरोजगारी, गरीबी, अपराध, व्यसन, वेश्यावृत्ति, मानसिक-शारीरिक रोग, परिवार विभाजन, आदि) का अध्ययन करते समय सामाजिक समस्या की प्रकृति, प्रकार, कारण एवं समाधान के बारे में पड़ताल करना पड़ेगा।

किसी भी विकासशील जीवंत समाज के लिए साहित्य और समाजशास्त्र का अध्ययन अनिवार्य है। साहित्य अपने मौखिककाल से अब तक समाज की विभिन्न गतिविधियों, स्थितियों, प्रक्रियाओं, संदर्भों से गुजरता हुआ, उसे अपने में समेटे हुए एवं अपने परिवेश के साथ न्यूनाधिक अभिव्यक्ति करता हुआ सतत प्रगतिशील होता है। आर्थिक परिबलों के साथ साहित्यिक-सांस्कृतिक विरासत जितनी समृद्ध होगी, समाज उतना विकसित और संपन्न होगा, सिर्फ आर्थिक संपन्नता से भौतिकवादिता ही बढ़ेगी। साहित्य दर्पण मात्र नहीं है, वह परिवर्तन-परावर्तन की क्रिया से भी लैस होता है। राज्याश्रय में या निजानन्द के लिए लिखा गया साहित्य और लोकतंत्र के साहित्य में पर्याप्त अन्तर हो सकता है। साहित्य की दर्पणवादी व्याख्या की अपनी सीमाएँ हैं। "अतीत का अनुभव साक्षी है कि जब ऐसा मानकर निर्णय किया गया तो अनर्थकारी परिणाम सामने आए। कर्नल टॉड ने जिस रासो साहित्य को आधार बनाकर राजपूताना का इतिहास लिख डाला, जब उसी की प्रामाणिकता पर प्रश्न उठ खड़ा हुआ तो इस भूल का एहसास हुआ।" साहित्यकार अपने समाज और समय की अनदेखी नहीं कर सकता। कबीर, तुलसी, सूर के साहित्य में समाज और समय की गतिविधियों को स्पष्ट देखा जा सकता है। आज का रचनाकार नहीं कह सकता - 'सन्तन को कहा सीकरी सो काम'। [19,20]

साहित्य का भी समाजशास्त्र होता है, इसे विशुद्ध समाजशास्त्री मानने को तैयार नहीं हैं, वे इसे समाजशास्त्र की ही एक शाखा मानते हैं। तो दूसरी ओर ऐसे साहित्य-आलोचक भी हैं जो साहित्य के समाजशास्त्र को इसलिए नहीं स्वीकारते क्योंकि इसका सीधा सम्बन्ध बाजारू साहित्य से है। एक तीसरी स्थिति वह है, जहाँ साहित्य और समाजशास्त्र के अन्तःसम्बन्ध और उसके प्रभाव एवं उपयोगिता को समझने तथा स्वीकारनेवाले विद्वान अपने-अपने ढंग से पहल करते हैं। वास्तविकता यह है कि साहित्य के गम्भीर-मूर्धन्य आलोचकों ने जिसे बाजारू, सस्ता एवं सतही, तथा चालू किस्म का (लगभग अछूत-सा) साहित्य मान कर उसे हाशिए पर रखा, उसका उत्पादन, विक्रय और लोकप्रियता बहुत अधिक है। यहाँ सवाल यह है कि ऐसा साहित्य अपने उपभोक्ताओं की किन आवश्यकताओं या उद्देश्यों की पूर्ति करता है? क्या उसका भी अपना कोई साहित्यशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र या समाजशास्त्र होता है? इस दिशा में राजेन्द्र यादव ने देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों का समाजशास्त्रीय अध्ययन महत्वपूर्ण कार्य है। साहित्य की कसौटी बदलने की बात प्रेमचन्दजी ने कही थी। कालान्तर में, दलित लेखन और स्त्री दृष्टिकोण को समझने के प्रयास हुए और उनके साहित्य के सौन्दर्य को स्वीकृति भी मिली।

साहित्य के समाजशास्त्र के प्रवर्तक को लेकर विद्वानों में मतभेद है, किन्तु प्रमुखता दो नाम सामने आते हैं- फ्रांसीसी मादाम स्तेल(1766-1817) और फ्रांसीसी विचारक इपॉलित अडोल्फ तेन(1828-1893)। हालांकि इससे भी पहले हर्डर (1744-1871) ने भी इस दिशा में उल्लेखनीय कार्य किया था। मादाम स्तेल का मानना था कि साहित्य का अपने समय के राजनीतिक विश्वासों और गतिविधियों से गाढ़ परिचय होना चाहिए। उन्होंने साहित्य के सामाजिक आधार का विवेचन करते हुए साहित्य पर प्राकृतिक परिवेश और प्रजाति का प्रभाव स्पष्ट किया। उनका यह प्रयास आरम्भिक था, अक्रमिक और अनगढ़ था, इसके बावजूद तेन और परवर्ती समाजशास्त्रियों ने कुछ हद तक विकासत्मक अनुकरण किया। [21,22]

International Journal of Innovative Research in Science, Engineering and Technology

(An ISO 3297: 2007 Certified Organization)

Vol. 4, Issue 12, December 2015

तेन की दृष्टि और पद्धति को स्पष्ट करते हुए मैनेजर पाण्डेय कहते हैं- " कला और साहित्य की कृतियों को सामाजिक तथ्य तथा घटना के रूप में देखना, उनकी उत्पत्ति की व्याख्या में कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित करना, प्रकृतिविज्ञानों की वस्तुपरक पद्धति को अपनाना और कृतियों को मानव चेतना की अभिव्यक्ति समझना "2 उनकी विशेषताएँ हैं। तेन का मानना था कि किसी भी महान कृति में तत्कालीन समाज, उसके रीति-रिवाजों और समय की अभिव्यक्ति होती है। साहित्य और समाज के बीच वस्तुपरक सरोकार कौन से हैं? किन अर्थों में साहित्य समाज का दर्पण है? कृति और पाठक के बीच कैसा सम्बन्ध है? आदि प्रश्नों का उत्तर उन्होंने साहित्य के समाजशास्त्र का स्वरूप स्पष्ट करते हुए दिया है। मैनेजर पाण्डेय के अनुसार "उनके साहित्य के समाजशास्त्र के चार मुख्य पक्ष हैं-1. साहित्य के भौतिक-सामाजिक मूलाधार की खोज 2. लेखक के महत्व का विश्लेषण 3. साहित्य में समाज के प्रतिबिम्बन की व्याख्या 4. साहित्य का पाठक से सम्बन्ध।"3 इस प्रकार तेन ने साहित्य के विकास में समाज की भूमिका स्पष्ट करते हुए प्रजाति, परिवेश और युग को कारण माना।

आलोचनात्मक समाजशास्त्रियों ने संस्कृति के समाजशास्त्र का चिंतन एवं विकास किया। अडोर्नो, हर्वट, मारकुस और लिओलावेंथल ने इसमें अपना योगदान दिया। तेन के पश्चात और गोल्डमान से पूर्व एक कड़ी के रूप में लावेंथल महत्वपूर्ण साहित्य के समाजशास्त्री माने जाते हैं। यथार्थवाद के हिमायती लावेंथल ने 'अर्थ की संरचना' पर विशेष बल दिया है। उन्होंने साहित्य की सामाजिकता का विश्लेषण करते हुए उसमें मनोविज्ञान की उपयोगिता को भी महत्वपूर्ण माना। उनका मानना था कि रचनाकार जिन पात्रों का सृजन करता है वे काल्पनिक होते हुए भी सवाये सच होते हैं, वे व्यक्ति-अनुभव को भलीभाँति समझ लेते हैं। लावेंथल लोकप्रिय संस्कृति और साहित्य का विश्लेषण-विवेचन करते हुए उसे मध्यवर्ग का साहित्य मानते हैं। उस साहित्य को ठीक-ठीक समझने के लिए मध्यवर्गीय मानसिकता-आवश्यकता को जानना अपेक्षित है। किन्तु उनके " लोकप्रिय साहित्य के विवेचन में कहीं भी मजदूरों और किसानों की मानसिकता के लिए कोई जगह नहीं है।"

देवकीनंदन खत्री और किशोरीलाल गोस्वामी से लेकर गुलशन नंदा की तरह के लेखकों के उपन्यास, तथा मनोहर कहानियाँ एवं फिल्मी कलियाँ जैसी पत्रिकाओं के पाठक बहुत अधिक हैं। दूसरी ओर साहित्यिक कही जानेवाली पत्रिकाएँ अपने जन्म से ही आखिरी घड़ी का इन्तज़ार करने लगती हैं। स्पष्ट है कि तिलस्मी, जासूसी, रोमांस या अपराध से सम्बद्ध उपन्यासों-कहानियों-पत्रिकाओं को जिस तरह लोकप्रियता मिल जाती है उस तरह किसानों और मजदूरों को केन्द्र में रख कर लिखनेवालों को नहीं मिलती, उन्हें ताउम्र संघर्ष करना पड़ता है। यह बात साहित्य के आलोचकों द्वारा कही जाती रही है कि सिर्फ लोकप्रियता के आधार पर साहित्य को श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता। समाजशास्त्रीय अध्ययन लेखक, पाठक और विक्रय तीनों को केन्द्र में रखता है।[23,24]

जार्ज लुकाच समग्रता और वस्तुनिष्ठता में माननेवाले थे। समग्रता की अवधारणा हीगल से होकर वाया मार्क्स से लुकाच के यहाँ आती है। बीसवीं सदी में कृति की समग्रता को लुकाच ने ही प्रचलित एवं प्रतिष्ठित किया। लूसिँ गोल्डमान(1913-1971) ने पूर्व सिद्धांतों और विचारों का अध्ययन करते हुए साहित्य के समाजशास्त्र विषयक विश्वदृष्टि दी। उन्होंने साहित्य के समाजशास्त्रीय विश्लेषण के लिए जो प्रणाली विकसित की उसे उत्पत्तिमूलक संरचनावाद (जेनेटिक स्ट्रक्चरलिज्म) कहते हैं। इसकी मूल अवधारणा है समग्रता। गोल्डमान मानते हैं कि "कोई साहित्यिक कृति एक निश्चित सामाजिक वर्ग की विश्वदृष्टि के संदर्भ में ही पूरी तरह समझी जा सकती है। इसके विपरीत यदि किसी कृति को केवल उसके कृतिकार की जीवनदृष्टि के प्रकाश में देखने का प्रयास किया गया तो वह खण्ड दर्शन होगा।"

रेमण्ड विलियम(1921-1988) के लेखन और विचार विकासामक रहे हैं। इसीलिए उन्होंने परवर्ती चिंतन में

International Journal of Innovative Research in Science, Engineering and Technology

(An ISO 3297: 2007 Certified Organization)

Vol. 4, Issue 12, December 2015

साहित्य को व्यापक सांस्कृतिक संदर्भ में और संस्कृति को व्यापक साहित्यिक संदर्भ में रख कर देखने का प्रयास किया है, जिसमें राजनीतिक संदर्भ भी शामिल हों। रेमण्ड ने 'अनुभूति की संरचना' पर बल देते हुए उसे वास्तविक जीवन का अनुभव माना है। उनका मानना था कि प्रत्येक काल में समुदाय विशेष का अपना जीवन अनुभव होता है और यह सहज ही आगामी पीढ़ी को मिलता रहता है।

साहित्य के समाजशास्त्रीय विश्लेषण की कई पद्धतियाँ हैं, जिसमें विधेयवादी दृष्टिकोण, मार्क्सवादी विश्लेषण, संरचनावादी दृष्टिकोण, आलोचनात्मक-समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण उत्पत्तिमूलक संरचनावादी दृष्टिकोण, आदि मुख्य हैं। सामाजिक वास्तविकता, जीवन अनुभव, विचारधारा और अभिव्यक्ति की कलात्मक क्षमता का साहित्य सृजन पर सीधा प्रभाव पड़ता है। लेखक की ऐतिहासिक दृष्टि, पूर्वग्रह और गलत विचारधारा से दूरी, तटस्थता एवं ईमानदारी, सत्य में अटल विश्वास से जो साहित्य निर्मित होगा वह यथार्थ के अधिक करीब और अपनी अलग पहचान रख सकेगा। यही कारण है कि प्रेमचन्द का गाँव तथा किसान, और रेणु के गाँव तथा किसान एक दूसरे से पर्याप्त अन्तर एवं नवीनता रखते हैं। [25] साहित्यकार की रचना के केन्द्र में वर्ग या व्यक्ति हो सकता है, जैसे कि प्रेमचन्द और अज्ञेय का साहित्य। वर्षों बाद प्रेमचन्द की परम्परा अपने विकसित एवं परिमार्जित रूप में यदि आज भी विद्यमान है तो उसकी पड़ताल उपर्युक्त आधारों पर की जा सकती है।

एंगेल्स ने कहा था - "यथार्थवाद लेखक के विचारों के बावजूद प्रकट हो सकता है।" जार्ज लुकाच ने इसी आधार पर टॉलेस्टॉय और बालज़ाक के उपन्यासों के आधार पर सिद्ध किया कि लेखक की विचारधारा और रचना के सामाजिक यथार्थ के बीच सदैव समानता हो यह जरूरी नहीं, विरोध भी हो सकता है। साहित्य का उद्देश्य सिर्फ इतिहास या राजनीतिक लेखाजोखा प्रस्तुत करना नहीं है। इस संदर्भ में मैनेजर पाण्डेय एंगेल्स का हवाला देते हुए कहते हैं - "1848 की क्रान्ति के बाद किसी ने एंगेल्स से पूछा कि 1848 की क्रान्ति की कविताएँ कहाँ गईं। एंगेल्स ने जवाब दिया 'वे सब अपने समय के राजनीतिक पूर्वग्रहों के साथ मर गईं।' 4 साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन उन पहलुओं और कारणों की भी जाँच-पड़ताल करता है जिनसे किसी रचना की प्रासंगिकता, उपयोगिता और लोकप्रियता स्थापित होती है।

साहित्य का समाजशास्त्र समाज और साहित्य की पृष्ठभूमि और दोनों के बीच के सम्बन्धों की पड़ताल एवं व्याख्या करता है। साहित्य की विविध विधाओं की अपनी विशिष्ट प्रकृति, रूप-संरचना, शब्दावली, शैली होती है इसलिए उसके अनुरूप समाजशास्त्रीय विवेचन करना चाहिए। साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन सावधानीपूर्वक करना चाहिए कि "साहित्य के विविध रूपों और विधाओं का समाजशास्त्र एक जैसा नहीं हो सकता।....रचना का समाजशास्त्रीय विवेचन करते समय उसकी प्रकृति की परख जरूरी है।....रचना का ऐसा समाजशास्त्र जो उसके सामाजिक महत्व का विश्लेषणकरे,लेकिन उसके कलात्मक सौंदर्य पर ध्यान न दे, वह अधूरा होगा।" 5 इस बात को हम उपन्यास के विकास एवं लेखन में सामाजिक, भौगोलिक, आर्थिक पहलुओं के योगदान से समझ सकते हैं। [26,27]

भारत में उपन्यास का जन्म जिन परिस्थितियों में हुआ वह यूरोप में उपन्यास को जन्म देनेवाली परिस्थितियों से भिन्न एवं विपरीत थीं। यूरोप के औद्योगिकीकरण और मध्यवर्ग के विकास की जगह भारत में उपनिवेशवादी व्यवस्था थी इससे जमींदारों का एक नया वर्ग उभरा। जमींदारों, रियासतदारों, महाजनों, के अलावा पाश्चात्य शिक्षा ग्रहण किया समुदाय भी था, जिसे मध्यवर्ग के अन्तर्गत रख सकते हैं। छोटे किसानों की स्थिति दोनों जगह खराब थी, किन्तु परिस्थितियाँ और कारण भिन्न थे। एशिया में "सच्चे आधुनिकीकरण की जगह 'औपनिवेशिक आधुनिकीकरण' ने ले ली जिसके मुख्य शिकार भारतीय किसान थे।" 6 शासक की भाषा और

International Journal of Innovative Research in Science, Engineering and Technology

(An ISO 3297: 2007 Certified Organization)

Vol. 4, Issue 12, December 2015

साहित्य का प्रभाव जनता पर सीधा पड़ता है, वह धन्यता चाहे न भी अनुभव करे किन्तु स्वीकारने के लिए बाध्य होता है, चाहे वह मुगलकाल रहा हो या अंग्रेजी शासन। शुरुआती दौर में अंग्रेजी के घटिया उपन्यासों का बंगला, हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं में अनुवाद हुआ। तिलस्मी, जासूसी, और रोमांस को केन्द्र में रख कर लिखे गए आरंभिक उपन्यासों का गद्य पर्याप्त विकसित न था। यह समस्या यूरोपीय उपन्यासों के सामने न थी।

आरंभिक भारतीय उपन्यासों की मुख्य प्रवृत्तियों में सुधारवाद, शिक्षा, नैतिकता एवं आदर्श, यथार्थ, आदि हैं। जमींदारी-महाजनी शोषण, किसानों-मजदूरों की बदहाल स्थिति, शहरीकरण आदि प्रवृत्तियाँ परवर्ती उपन्यासों में उभरी हैं। जमींदारी शोषण और किसानों-मजदूरों की बदहाल स्थिति का जो चित्र फकीरमोहन सेनापति(उड़िया), ताराशंकर बंद्योपाध्याय और प्रेमचंद प्रस्तुत करते हैं वैसा पन्नालाल पटेल (गुजराती) के यहाँ नहीं है। डॉ. भोलाभाई पटेल ठीक कहते हैं कि “वहाँ महाजन सूदखोर रक्तशोषक है। गुजरात में महाजन का अर्थ सूदखोर नहीं है, उसका एक अर्थ है benevolent परोपकारी भी है।”⁷ प्रेमचंद का साहित्य उपनिवेशवादी मानसिकता एवं शोषण से छुटकारा पाने के लिए संघर्षरत है। वे स्पष्टरूप से गरीब, शोषित किसानों-मजदूरों के पक्षधर हैं और सामंतवाद, पूंजीवाद, तथा साम्राज्यवाद के खिलाफ हैं। उनकी वर्ग-दृष्टि एवं पक्षधरता-सहानुभूति और विचारधारा के कारण वे आलोचनात्मक यथार्थवादियों से कुछ अलग दीखते हैं। मैनेजर पाण्डेय के अनुसार “जनवादी यथार्थवादी दृष्टिकोण ही प्रेमचंद के विषयचयन, उसके संगठन, और रचना-रूप के विकास का नियामक है।..... भारतीय स्वाधीनता आंदोलन के रचनाकार प्रेमचंद के लिए यह जनवादी यथार्थवाद केवल एक साहित्यिक दृष्टिकोण न था, इसका उनके लिए राजनीतिक, दार्शनिक, और व्यावहारिक महत्व था।” [28]

साहित्य के समाजशास्त्र का उपयोग विशुद्ध समाजशास्त्री भी जाने-अनजाने, प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से करते हैं। रामायण साहित्यिक कृति है, डॉ. संजीव महाजन सामाजिक विचलन (Social Deviance) का उदाहरण ‘रामायण’ के शम्बूक-वध की घटना से देते हैं “उसका यह व्यवहार वर्ण धर्म के अनुकूल नहीं था क्योंकि शूद्रों को इस प्रकार की तपस्या करने का अधिकार नहीं था। शम्बूक अपराधी घोषित किया गया, वह विचलन का दोषी था।”⁹ प्रेमचंद की कहानी ‘कफ़न’ में प्रसव-वेदना से तड़पती बुधिया को छोड़ कर उसका पति.. और ससुर भुने हुए आलू खाता है, इतना ही नहीं कफ़न के पैसों का उपयोग जिस तरह खाने-पीने में करता है, उसे लेकर अधिकांश दलित लेखकों और आलोचकों ने क्या प्रतिक्रिया दी, सभी को मालूम है। गुजराती उपन्यास ‘मानवीनी भवाई’ (1947) में छप्पनिया अकाल की पृष्ठभूमि है। अकाल से पीड़ित, भूख से तड़पते आदिवासी भील गिद्ध की तरह मरे हुए पशु पर टूट पड़ते हैं, कलेजा काँप जाये, रोम-रोम सिहर उठे ऐसा वर्णन है। उपन्यास का नायक कालू देखता है कि झाड़ी में एक औरत खरगोश जैसा कुछ खा रही है, उसका भ्रम था या वास्तविकता, खरगोश था या उसका अपना बच्चा! बच्चा ही था। “जगत में सबसे बुरा अगर कुछ है तो भूख है।”¹⁰ वास्तव में, ऐसी कृतियों के समाजशास्त्रीय अध्ययन-विश्लेषण की आवश्यकता होती है। साहित्यिक कृतियों के समाजशास्त्रीय अध्ययन-विवेचन करने के लिए विभिन्न पद्धतियों का उपयोग होता है। एक ही पद्धति और पैमाने से ज्ञान-विज्ञान के किसी भी क्षेत्र का अध्ययन-विश्लेषण संभव नहीं है। साहित्य का समाजशास्त्र अपने आप में पूर्ण एवं स्वतंत्र साहित्य विधा है और उसका सम्बन्ध अन्य सामाजिक विज्ञानों से भी है।

प्रेमचंद की कहानियों में आए अन्य तमाम किसान चरित्रों को देखते हुए प्रेमचंद के किसान के बारे में कुछ बातें निश्चित तौर पर कही जा सकती हैं कि- 1. वे प्रायः छोटी जोत के किसान हैं, जो अपने खेतों में प्रायः स्वयं काम करते हैं। 2. खेती उनके लिए महज व्यवसाय नहीं, बल्कि ‘मरजाद’ को बचाए रखने का साधन होता है। 3. वे प्रायः पिछड़ी जाति के हैं।

International Journal of Innovative Research in Science, Engineering and Technology

(An ISO 3297: 2007 Certified Organization)

Vol. 4, Issue 12, December 2015

उसी तरह किसानों के इस आन्दोलन ने सरकारी तंत्र, कुलक तबका और उसके रखे हुए चापलूस गुंडों ने जिस कायरता, निर्लज्जता और हैवानियत का परिचय दिया, उसकी भी पहचान प्रेमचंद ने अपने समय में ही कर लिया था. उन्होंने साफ-साफ बताया कि ये तबका समाज का सबसे निकृष्ट, निर्लज्ज और शोषक का सबसे बड़ा धारक है.[23]

ये किसानों-मजदूरों के हमदर्द बनते हैं, बड़े-बड़े आदर्श बघारते हैं लेकिन वास्तव में ये तबका समाज के सबसे बड़े लुटेरे हैं, निर्लज्ज हैं, मनुष्यता से रहित हैं, नैतिक बोध से रहित हैं, कट्टर, अनुदार, अमानवीय हैं, जिसका एक मात्र काम लोगों का जमीन हड़पना, मजदूरों के मजदूरी का पैसा हड़पना, कर चोरी करना, घनघोर जातिवाद करना, कमजोरों के बहन-बेटियों की आबरू लुटना आदि जैसे तमाम कुरीतियों का गंगोत्री बनना ही इनके भाग्य में बदा है.

दिल्ली के बॉडरों पर पूरे एक साल चले इस किसान आन्दोलन ने प्रेमचंद को शब्दशः सच साबित कर दिया. किसान समुदाय और इस तथाकथित कुलीन-शोषणकारी तबकों के बीच साफ-साफ विभाजन रेखा खींच दिया. यह तथाकथित कुलीन तबका ने जिस तरह किसानों के पिज्जा खाने, एसी कमरे में लेट जाने, अच्छे कपड़े पहन लेने जैसी बातों पर जिस तरह आसमान सर पर उठा लिया, मीडिया, सोशल मीडिया पर दुश्प्रचार का बाढ़ ले आया, किसानों के खिलाफ तमाम तरह के दुश्प्रचार फैलाने का कुकर्म किया, उसने इस तथाकथित कुलीन तबके के चरित्र पर प्रेमचंद के गंभीर समझ को सच साबित कर दिया.

मिजोरम विश्वविद्यालय, आइजोल के हिन्दी विभाग के असिस्टेंट प्रोफेसर डॉ. अमिष वर्मा ने प्रेमचंद के साहित्य का गंभीर अध्ययन कर किसान और तथाकथित कुलीन तबका पर प्रेमचंद की गंभीर टिपण्णी को जिस प्रकार लोगों के सामने रखें, वह काबिलेतारीफ है. यहां हम इस विश्लेषण को प्रस्तुत कर रहे हैं, जिसे 'लमही' ने अपनी पत्रिका के अंक में प्रकाशित किया है [25]

निष्कर्ष

यह बात अब अलग से कहने की ज़रूरत नहीं कि प्रेमचंद मूल रूप से किसान जीवन के कथाकार हैं. किसानों के जीवन के राग-विराग, हर्ष-शोक, उनकी पारिवारिक संरचना, सामाजिक संरचना, समस्याएं, आर्थिक कठिनाइयां आदि प्रायः हर प्रसंग प्रेमचंद के उपन्यास-कहानियों में खूब मिलते हैं. कह सकते हैं कि पूरी कृषक संस्कृति प्रेमचंद के कथा साहित्य में दिखाई पड़ती है और इसी किसानी संस्कृति के प्रति प्रेमचंद का सम्मान भी है, उनकी आस्था भी है. अब सवाल यह है कि प्रेमचंद के किसान कौन लोग हैं ? वे कौन लोग हैं जिन्होंने इस कृषक संस्कृति के निर्माण और संरक्षण का दायित्व निभाया है ?

ध्यान देने की बात है कि यह जो कृषक संस्कृति प्रेमचंद के कथा साहित्य में छापी हुयी है, उस संस्कृति के मूल घटक वे लोग हैं जो खेती-किसानी से सीधे जुड़े हुए लोग हैं, जिनके पास कुछ थोड़े-बहुत खेत हैं, जो उन खेतों में स्वयं काम करते हैं और खेती जिनके लिए 'मरजाद' की बात है. यह 'मरजाद' उस संस्कृति के निर्माण और उसके संरक्षण का आधार है. प्रेमचंद इस बात को खूब अच्छी तरह समझते हैं और हमें भी समझाते हैं.[26]

प्रेमचंद के तमाम किसान पात्र जो 'मरजाद' के लिए जान देते हैं, वे पिछड़ी जाति के किसान हैं. क्या इस तथ्य को महज एक संयोग मानकर छोड़ दिया जाना चाहिए ? प्रेमचंद के लिए किसान केवल अर्थ आधारित वर्ग ही नहीं है, बल्कि उसका एक स्पष्ट जातिगत आधार भी है इसलिए प्रेमचंद के किसानों पर विचार करते समय जाति के सामाजिक आधार को

International Journal of Innovative Research in Science, Engineering and Technology

(An ISO 3297: 2007 Certified Organization)

Vol. 4, Issue 12, December 2015

नजरअंदाज नहीं किया जाना चाहिए. प्रेमचंद के साहित्य में आए तमाम किसानों की सूची बनाई जाए तो बहुत ही कम किसान ऊंची जातियों और दलित जातियों के मिलेंगे. जहां कहीं वे किसान के रूप में दिखाई पड़ते भी हैं, वहां वास्तविक अर्थ में वे किसान होने की शर्तों को पूरा नहीं करते.

'रंगभूमि' के सूरदास को देखिए. उसके पास जमीन तो है, पूरे उपन्यास की कथा उसी ज़मीन को बचाने के संघर्ष की कथा है, मगर सूरदास किसान नहीं है. कहीं भी प्रेमचंद ने सूरदास को खेती करते या खेती की चिंता करते हुए नहीं दिखाया है. 'कर्मभूमि' में दलितों की बस्ती में सलोनी बुढ़िया और गूदड़ चौधरी के पास भी कुछ खेत हैं, लेकिन प्रेमचंद ने उन्हें भी खेती की चिन्ता करते हुए नहीं दिखाया. खेती-किसानी की जो पूरी एक संस्कृति प्रेमचंद के कथा साहित्य में दिखाई पड़ती है, वह प्रायः पिछड़ी जाति के किसानों के संदर्भ में ही दिखाई पड़ती है, अन्यत्र नहीं.

प्रेमचंद के किसान और कृषक-संस्कृति के इस जातिगत सामाजिक पहलु को ठीक से समझे जाने की जरूरत है. इस विषय पर युवा आलोचक डा. कमलेश वर्मा ने बारीकी से विचार किया है. उन्होंने अपने लेख 'प्रेमचंद के किसान, पिछड़ी जातियां और भारतीय संस्कृति' में प्रेमचंद के किसानों की जातिगत पहचान तथा भारत की कृषि-संस्कृति के निर्माण में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका का बेहतरीन विश्लेषण किया है. वे लिखते हैं-

'गोदान' के होरी महतो से लेकर 'पूस की रात' के हल्कू तक-जहां भी किसान है, वह पिछड़ी जाति का व्यक्ति है. प्रेमचंद ने किसान को लेकर जितनी कहानियां लिखी है, उनमें किसान के रूप में पिछड़ी जाति के ही पात्र हैं... उन्होंने जहां भी किसान-जीवन को विषय बनाया है, वहां का पात्र पिछड़ी जातियों से चुना है. उनकी स्पष्ट दृष्टि दिखाई पड़ती है कि किसान का अर्थ है पिछड़ी जातियां. उन्होंने ऊंची जातियों तथा दलित जातियों से किसान पात्र नहीं लिए हैं.[27]

'प्रेमाश्रम' के मनोहर से लेकर 'गोदान' के होरी तक और प्रेमचंद की तमाम कहानियों में आए किसान पात्रों के आधार पर प्रेमचंद की पूरी कथा-यात्रा को ध्यान से देखें तो उनके किसान को बहुत अच्छी तरह समझा जा सकता है. मनोहर, होरी, शंकर, भोला महतो, हल्कू, तुलसी और प्रेमचंद की कहानियों में आए अन्य तमाम किसान चरित्रों को देखते हुए प्रेमचंद के किसान के बारे में कुछ बातें निश्चित तौर पर कही जा सकती हैं कि-

- वे प्रायः छोटी जोत के किसान हैं, जो अपने खेतों में प्रायः स्वयं काम करते हैं.
- खेती उनके लिए महज व्यवसाय नहीं, बल्कि 'मरजाद' को बचाए रखने का साधन है.
- वे प्रायः पिछड़ी जाति के हैं.

होरी महज पांच बीघे का किसान है. वह और उसका पूरा परिवार (यहां तक कि उसकी छोटी बेटी रूपा भी) खेतों में काम करता है. वह निश्चित रूप से प्रेमचंद का आदर्श किसान चरित्र है. ध्यान देना चाहिए कि 'गोदान' में खेत मातादीन के पास भी है, बल्कि होरी से ज्यादा है. मगर प्रेमचंद की निगाह में वह किसान नहीं है. वह ब्राह्मण है और उसका मूल व्यवसाय जजमानी है. मातादीन का बेटा दातादीन झिंगुरी सिंह से कहता है -

'तुम जजमानी को भीख समझो, मैं तो उसे जमींदारी समझता हूँ; बंकघर. जमींदार मिट जाए, बंकघर टूट जाए लेकिन जजमानी अन्त तक बनी रहेगी. जब तक हिन्दू-जाति रहेगी, तब तक ब्राह्मण भी रहेंगे और जजमानी भी रहेगी... ऐसा चैन न जमींदारी में है, न साहूकारी में.'

इससे आगे प्रेमचंद मातादीन की खेती के बारे में लिखते हैं -

International Journal of Innovative Research in Science, Engineering and Technology

(An ISO 3297: 2007 Certified Organization)

Vol. 4, Issue 12, December 2015

‘दूसरे पेड़ के नीचे दातादीन का निजी पैरा था. चार बैलों से मड़ाई हो रही थी. धन्ना चमार बैलों को हाँक रहा था, सिलिया पैर से अनाज निकाल-निकालकर ओसा रही थी और मातादीन दूसरी ओर बैठा अपनी लाठी में तेल मल रहा था.’
गौर करने की बात है कि मातादीन के पास खेत है, मगर वह खेती का काम नहीं करता. धन्ना चमार खेत में काम करता है, मगर उसके पास अपना खेत नहीं है. वह दूसरों के खेत में मजदूरी करता है. होरी के पास थोड़े-से सही, पर अपने खेत हैं और वह सपरिवार उसमें काम करता है. प्रेमचंद की निगाह में किसान न तो मातादीन है और न धन्ना चमार, किसान तो होरी ही है. खेती-किसानी अगर किसी के लिए मरजाद का मामला है तो होरी के लिए. उपन्यास के शुरूआती प्रसंगों में ही गोबर को समझाते हुए होरी कहता है –

‘हमीं को खेती से क्या मिलता है ? एक आने नफरी की मजूरी भी तो नहीं पड़ती. जो दस रुपए महीने का भी नौकर है, वह भी हमसे अच्छा खाता-पहनता है; लेकिन खेतों को छोड़ा तो नहीं जाता. खेती छोड़ दें, तो और करें क्या ? नौकरी कहीं मिलती है ? फिर मरजाद भी तो पालना ही पड़ता है. खेती में जो मरजाद है, वह नौकरी में तो नहीं है.’
प्रेमचंद के पूरे कथा साहित्य में किसान अधिकांशतः पिछड़ी जाति से आते हैं. पिछड़ी जातियां जाति-व्यवस्था में मध्यवर्ती स्थिति रखती हैं. आर्थिक आधार पर भी इनकी स्थिति कमोबेश मध्यवर्ती ही ठहरती है. प्रेमचंद के किसान ठीक इसी तरह की सामाजिक स्थिति वाले किसान हैं. इनके चरित्र में एक प्रकार का सीधापन है जो इन्हें सबसे मिला-जुलाकर चलने वाले एक सरल ग्रामीण का रूप देता है. पिछड़ी जाति के किसान का चरित्र-चित्रण अपनी कहानी ‘सवा सेर गेहूँ’ में प्रेमचंद इस तरह करते हैं –

‘किसी गांव में शंकर नाम का एक कुरमी किसान रहता था. सीधा-सादा गरीब आदमी था, अपने काम से काम, न किसी के लेने में, न किसी के देने में. छक्का-पंजा न जानता था, छल-प्रपंच की उसे छूत भी न लगी थी, ठगे जाने की चिंता न थी, ठगविद्या न जानता था, भोजन मिला, खा लिया, न मिला, चबने पर काट दी, चबैना भी ना मिला, तो पानी पी लिया और राम का नाम लेकर सो रहा.’
पिछड़ी जाति के किसान शंकर का यह चरित्र प्रेमचंद के संपूर्ण साहित्य में आए किसानों के चरित्र का प्रतिनिधि है. शंकर के चरित्र की इन विशेषताओं के माध्यम से प्रेमचंद केवल अपनी कहानी के एक पात्र का चरित्र नहीं गढ़ रहे, बल्कि भारतीय किसान का एक चित्र गढ़ रहे हैं.

प्रेमचंद के किसान मनुष्य हैं- सच्चे अर्थों में मनुष्य, मनुष्यता की कसौटी पर खरे सरल-सहज श्रमजीवी ! ‘गोदान’ का होरी भारतीय किसान का प्रतिनिधि चरित्र है. होरी के चरित्र की कुछ विशेषताओं को ‘गोदान’ की निम्नलिखित पंक्तियों के आधार पर समझा जा सकता है-
‘होरी किसान था और किसी के जलते हुए घर में हाथ सेंकना उसने सीखा ही न था.’ होरी की कृषक प्रकृति झगड़े से भागती थी. चार बातें सुन कर गम खा जाना इससे कहीं अच्छा है कि आपस में तनाजा हो. कहीं मार-पीट हो जाए तो थाना पुलिस हो, बंधे-बंधे फिरो, सबकी चिरोरी करो, अदालत की धूल फांको, खेती-बारी जहनुम में मिल जाए.’
दूसरों की मजबूरी का फायदा उठाकर अपना लाभ गांठना अनैतिक है- इस तरह का नैतिक बोध पिछड़ी जाति के किसान के भीतर ही है. होरी में भी छोटी-छोटी चालाकियां करने की आदत है. वह भोला से गाय पा जाने के लिए अपनी तरफ से चालाकी करता ही है, लेकिन इन सबके बावजूद उसके भीतर की मनुष्यता और उसका गहरा नैतिक बोध कभी लुप्त नहीं होता. जैसे ही उसे एहसास होता है कि अपनी चालाकी में वह सामने वाले की मजबूरी का लाभ उठा रहा है, वह तुरंत पीछे हट जाता है. यही दरअसल मनुष्यता है. यह मनुष्यता प्रेमचंद ने ऊंची जाति के पात्रों को यदाकदा ही बखशी है

International Journal of Innovative Research in Science, Engineering and Technology

(An ISO 3297: 2007 Certified Organization)

Vol. 4, Issue 12, December 2015

प्रेमचंद के कथा साहित्य में ऊंची जाति के पात्रों में प्रायः एक प्रकार का जातिवादी अभिमान मौजूद है। इस जातिवादी अभिमान के कारण उनमें एक प्रकार की अभद्रता, ढीठपना और क्रूरता भी मौजूद है। दूसरों को ठगकर, उनकी मजबूरी का लाभ उठाकर इन्हें एक प्रकार का आत्मतोष मिलता है। यहां किसी प्रकार का कोई नैतिक बोध नहीं है। छोटे-मोटे साधारण किसानों- बेगारों को ठगना तो छोड़ दें, ये जमींदारों को भी चकमा देने में कामयाब हो जाते हैं। ज़ाहिर है कि अपनी सामाजिक जातिगत हैसियत के बल पर यह ऊपर के अमले-अधिकारियों से अपनी सांठ-गांठ बिठाए रखते हैं। 'प्रेमाश्रम' के एक प्रसंग में प्रेमचंद ने लिखा है- 'गांव में दस-बारह घर ठाकुरों के थे। उनसे लगान बड़ी कठिनाई से वसूल होता था...'. एक और उदाहरण देखा जा सकता है -

'प्रेमाश्रम' में ही ज्ञानशंकर की पत्नी विद्या की बड़ी बहन गायत्री के पास भी थोड़ी जमींदारी है। उसके असामियों में कुछ ठाकुर भी हैं। ठाकुर गायत्री देवी की जमीन हड़प लेते हैं। कानूनगो गायत्री देवी को सूचना देता है- 'आपको सुनकर रंज होगा। सारन में हुजूर की कई बीघे सीर असामियों ने जोत ली है, जगराँव के ठाकुरों ने हुजूर के नए बाग को जोतकर खेत बना लिया है, मेड़ें खोद डाली हैं। जब तक फिर से पैमाइश न हो कुछ पता नहीं चल सकता कि आपकी कितनी जमीन उन्होंने खाई है.'

प्रेमचंद के पूरे कथा साहित्य में शायद ही कोई ऐसा प्रसंग ढूँढकर निकाला जा सके, जहां किसी पिछड़ी जाति के किसान ने किसी जमींदार की जमीन हड़पने का विचार भी किया हो। इस मामले का संबंध भारतीय समाज की जातिवादी संरचना तथा विभिन्न जातियों की 'सोशल ट्रेनिंग' से है। पिछड़ी जातियों की 'सोशल ट्रेनिंग' ऊंची जातियों की 'सोशल ट्रेनिंग' से भिन्न है। इसी भिन्न 'सोशल ट्रेनिंग' का नतीजा है कि होरी जैसा पिछड़ी जाति का किसान किसी तरह के झगड़े-झंझट में नहीं पड़ना चाहता, अपना सर्वस्व लुटाकर भी किसी का एक पैसा नहीं मारता और दूसरी तरफ 'प्रेमाश्रम' के ठाकुर असामी जमींदार तक की जमीन हड़प लेने का हौसला रखते हैं। प्रेमचंद इस 'सोशल ट्रेनिंग' को कहीं भी नजरअंदाज नहीं करते। उनके पात्रों का ध्यान से अध्ययन करने पर यह बात बहुत साफ तौर पर दिखाई पड़ती है।

पिछड़ी जाति के किसान तमाम अभावों के बावजूद मनुष्यता का दामन नहीं छोड़ते। ऐसा नहीं है कि ये किसी ऊंचे आदर्श का पालन करने के लिए सायास ऐसा करते हैं, बल्कि यह तो इनका स्वभाव है। किसान के खेत में काम करने वाला दलित मजदूर भी मनुष्य है, उसे भी भूख-प्यास लगती है, थकान होती है- इस बात की चिंता और समझ पिछड़ी जाति के किसान को तो है लेकिन किसी ऊंची जाति वाले व्यक्ति के मन में नहीं है, चाहे वह जमींदार हो या तथाकथित किसान।

'प्रेमाश्रम' में मनोहर के खेत में काम करने वाले रंगी दलित के लिए बलराज (मनोहर का बेटा) की चिंता में मनुष्यता का वह सहज रूप दिखाई पड़ता है। मनोहर, बलराज और रंगी एक साथ बैठकर खाना खा रहे हैं। [25,26] बलराज की मां बिलासी केवल बलराज के लिए दूध लाती है तो वह अपनी मां से नाराज होकर कहता है-

'...जो हमसे अधिक काम करता है उसे हमसे अधिक खाना चाहिए। हमने तुमसे बार-बार कह दिया है कि रसोई में जो कुछ थोड़ा-बहुत हो, वह सबके सामने आना चाहिए। अच्छा खाएं, बुरा खाएं तो सब खाएं... रंगी कोई बेगार का आदमी नहीं है, घर का आदमी है। वह मुंह से चाहे न कहे, पर मन में अवश्य कहता होगा कि छाती फाड़कर काम मैं करूँ और मूछों पर ताव देकर खाएं यह लोग। ऐसे दूध-घी खाने पर लानत है.'

जैसे आग में तपकर सोना और भी चमक उठता है, उसी तरह अभावों में तपकर यह मनुष्यता और भी गरिमामयी हो उठती है। लेकिन ऐसी मनुष्यता प्रेमचंद के उपन्यासों में ऊंची जाति के पात्रों को कहीं नसीब ! 'गोदान' के रायसाहब ऊपर-ऊपर किसानों-मजदूरों के हमदर्द बनते हैं, बड़े-बड़े आदर्श बघारते हैं, लेकिन जब उनका चपरासी आकर सूचना देता है कि

International Journal of Innovative Research in Science, Engineering and Technology

(An ISO 3297: 2007 Certified Organization)

Vol. 4, Issue 12, December 2015

'बेगारों ने काम करने से इंकार कर दिया है. कहते हैं जब तक हमें खाने को न मिलेगा हम काम न करेंगे. हमने धमकाया तो सब काम छोड़कर अलग हो गए', तब यह सुनकर 'रायसाहब के माथे पर बल पड़ गए. आंखें निकालकर बोले- चलो मैं इन दुष्टों को ठीक करता हूं. जब कभी खाने को नहीं दिया, तो आज यह नई बात क्यों ? एक आने रोज के हिसाब से मजूरी मिलेगी, जो हमेशा मिलती रही है; और इस मजूरी पर काम करना होगा, सीधे करें या टेढ़े.' प्रेमचंद कितनी सूक्ष्मता और कुशलता से यह भी बता देते हैं कि रायसाहब के यहां बेगारों का भूखे-प्यासे खटना कोई आज की बात नहीं है- 'जब कभी खाने को नहीं दिया...' – यह तो हमेशा की बात है ! यह है ऊंची जाति के (ठाकुर) जमींदार रायसाहब अमरपाल सिंह की मनुष्यता !

इसी तरह 'गोदान' में उस प्रसंग को भी देखा जा सकता है जब होरी दातादीन के खेत में मजदूरी करने पर मजबूर हो जाता है और दातादीन उससे भूखे-प्यासे इतना काम लेता है कि वह बेहोश हो जाता है. पिछड़ी जाति के पात्रों की मनुष्यता और ऊंची जाति के पात्रों की मनुष्यता(!) के अंतर के उदाहरण प्रेमचंद के उपन्यासों में भरे पड़े हैं. प्रेमचंद ने अपने निबंध 'उपन्यास' में लिखा है –

'वह (साहित्यकार) हमारा पथ प्रदर्शक होता है, वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता है, हममें सद्भावों का संचार करता है... इस मनोरथ को सिद्ध करने के लिए जरूरत है कि उसके चरित्र positive हों, जो प्रलोभनों के आगे सिर न झुकाएँ, बल्कि उनको परास्त करें, जो वासनाओं के पंजे में न फँसें, बल्कि उनका दमन करें; जो किसी विजयी सेनापति की भाँति शत्रुओं का संहार करके विजय-नाद करते हुए निकलें, ऐसे ही चरित्रों का हमारे ऊपर सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है.'

'हमारे मनुष्यत्व को जगाने वाले', 'हममें सद्भावों का संचार करने वाले' और हमें प्रभावित करने वाले ऐसे कितने चरित्र प्रेमचंद के उपन्यासों में मिलते हैं, जो ऊंची जाति के हों ? संभवतः एक भी नहीं. क्या यह महज एक संयोग है कि प्रेमचंद के तमाम आदर्श पात्र-नायक-पिछड़ी या दलित जाति के हैं ? या फिर यह भारतीय समाज की जातिवादी संरचना की गहरी समाजशास्त्रीय समझ है ? दरअसल यह वह प्रस्थान बिंदु है, जहां से प्रेमचंद के साहित्य का समाजशास्त्र विश्लेषित और व्याख्यायित होता है.

प्रेमचंद के किसान भारत के वास्तविक किसान हैं जिनके चरित्र की बारीकियों को बिल्कुल ठीक-ठीक पहचानना है प्रेमचंद ने. पिछड़ी जाति के किसान के चरित्र को 'सुजान भगत' कहानी के सुजान महतो के चरित्र के आधार पर भी देखा-समझा जा सकता है. प्रेमचंद लिखते हैं- 'सीधे-सादे किसान धन हाथ आते ही धर्म और कीर्ति की ओर झुकते हैं.

दिव्य समाज की भाँति वह पहले अपने भोग-विलास की ओर नहीं दौड़ते...घर में सेरों दूध होता, मगर सुजान के कंठ तले एक बूंद भी जाने की कसम थी...किसान को दूध-घी से क्या मतलब, उसे रोटी और साग चाहिए. सुजान की नम्रता का अब पारावार न था. सबके सामने सिर झुकाए रहता, कहीं लोग यह न कहने लगे कि धन पाकर उसे घमंड हो गया है.' धर्मभीरुता, सादा जीवन, नम्रता और लोकभीरुता प्रेमचंद के किसान के चरित्र का जैसे श्रंगार हैं.

प्रेमचंद के कथा साहित्य में पिछड़ी जाति का शायद ही कोई ऐसा किसान पात्र हो जो उपर्युक्त चारित्रिक श्रंगारों से युक्त न हो ! 'पूस की रात' का हल्कू, 'बाबाजी का भोग' का रामधन अहीर, 'अलग्योझा' का रघू, 'सभ्यता का रहस्य' का दमड़ी आदि ऐसे ही पिछड़ी जाति के किसान चरित्र हैं. प्रेमचंद के किसान 'मरजाद' पर जान देने वाले किसान हैं.

International Journal of Innovative Research in Science, Engineering and Technology

(An ISO 3297: 2007 Certified Organization)

Vol. 4, Issue 12, December 2015

ये किसान बड़े किसान नहीं हैं, बल्कि पांच, दस या अधिक-से-अधिक बीस बीघे जमीन में खेती करने वाले किसान हैं, जिन पर ऊंची जाति के जमींदारों का दबदबा है। ये छोटे किसान जमींदार को लगान चुकाने के बाद मुश्किल से इतना अनाज बचा पाते हैं कि दो जून की रोटी नसीब हो जाए और कभी-कभी तो उतना भी नहीं बचता। ये छोटे किसान सोच-विचार करते हैं, जोड़-घटाव करते हैं कि इस खेती में बचा ही क्या है ? इससे तो मजदूरी अच्छी है। लेकिन जो बात इन किसानों को मजदूर बनने से रोकती है वह 'मरजाद' ही है। 'मरजाद' की चिन्ता न होती तो कब का ये किसानी छोड़कर मजदूर बन गए होते। मगर मजदूर बन जाना अपनी सामाजिक हैसियत से च्युत हो जाना है.[27]

कारण यह कि मजदूरी तो नीची जाति के लोगों का काम है। इसके अलावा जब तक खेती कर रहे हैं तब तक सारी आर्थिक तंगी के बावजूद किसी के नौकर तो नहीं हैं। मजदूरी से आर्थिक तंगी भले थोड़ी कम हो जाए मगर वह आजादी और 'मरजाद' तो न बचेगी। 'सभ्यता का रहस्य' कहानी में दमड़ी की चिन्ता इसी 'मरजाद' को बचाए रखने की है-

'लेकिन मौरूसी किसान मजदूर कहलाने का अपमान न सह सकता था। इस बदनामी से बचने के लिए दो बैल बाँध रखे थे ! उसके वेतन का बड़ा भाग बैलों के दाने-चारे में ही उड़ जाता था। ये सारी तकलीफें मंजूर थीं, पर खेती छोड़कर मजदूर बन जाना मंजूर न था। किसान की जो प्रतिष्ठा है, वह कहीं मजदूर की हो सकती है, चाहे वह रुपया रोज ही क्यों न कमाए ?'

दरअसल, 'मरजाद' प्रेमचंद के किसानों का नैतिक बल है। वह सब कुछ खोकर भी इस 'मरजाद' को बचाकर रखना चाहता है तो सिर्फ इसलिए कि गांव-बिरादरी में मुंह दिखाने लायक बचा रहे। यहां रामविलास जी की इस बात से असहमत होने का आधार बनता है कि प्रेमचंद के किसानों की मूल समस्या आर्थिक (ऋण की समस्या) है। बल्कि ऋण का बोझ तो इन किसानों की मूल समस्या से निबटने की कोशिश का परिणाम है। इस किसानों की मूल समस्या है 'मरजाद' की रक्षा।

डा. कमलेश वर्मा के जिस लेख की चर्चा शुरुआत में की गई है, उसमें उन्होंने मरजाद-रक्षा के इस पक्ष को भी उठाया है। डा. वर्मा लिखते हैं-

'गोदान' ही नहीं प्रेमचंद के पूरे कथा-साहित्य में किसान की मूल समस्या मरजाद को बचाए रखने की समस्या है। यदि वह मरजाद की चिन्ता नहीं करता तो ऋण की समस्या उसके सामने नहीं आती।' प्रेमचंद के लिए किसानों की यही मरजाद की चिन्ता उनकी मनुष्यता की सबसे बड़ी कसौटी है। 'मरजाद' प्रेमचंद के लिए दरअसल एक प्रकार की नैतिकता है, जिस पर वे मनुष्यता को परखते हैं।

इस बात पर ध्यान देने की ज़रूरत है कि 'मरजाद' की चिन्ता प्रायः पिछड़ी जाति के छोटे किसानों को है। ऊंची जात के लोगों, जमींदारों को कुलीनता की चिन्ता तो है पर मरजाद की चिन्ता नहीं है। कुलीनता और मरजाद में बुनियादी फर्क है। कुलीनता की चिन्ता व्यक्ति को कट्टर, अनुदार और अमानवीय बनाती है, जबकि मरजाद की चिन्ता उसे सहिष्णु, उदार और मानवीय बना देती है। कुलीनता का भाव घमंड को जन्म देता है, मरजाद की चिन्ता स्वाभिमान की रक्षा की चिन्ता है। कुलीनता वर्णाश्रम के सिद्धांतों को मनुष्यता से ऊपर रखती है, मरजाद के लिए पहली और आखिरी कसौटी मनुष्यता है, भाईचारा है। यह अकारण नहीं है कि प्रेमचंद के लिए ऐसी कुलीनता दो कौड़ी की चीज है, त्याज्य है और दूसरी तरफ 'मरजाद' अनमोल है, वरेण्य है।

यही मनुष्यता, सहृदयता और सदाशयता पिछड़ी जाति के किसानों में है। 'गोदान' में दो ऐसे प्रसंग आते हैं, जहां कुलीनता और बिरादरी की परवाह किए बिना होरी और धनिया सहज मनुष्यता की रक्षा करते हैं। पहला प्रसंग है जब गर्भवती झनिया होरी के घर आ जाती है। होरी और धनिया के लिए बहुत आसान था कि झनिया को लात मारकर भगा दें और बिरादरी में

International Journal of Innovative Research in Science, Engineering and Technology

(An ISO 3297: 2007 Certified Organization)

Vol. 4, Issue 12, December 2015

अपनी नाक बचाए रखें. इसके विपरीत झुनिया को अपने घर में आश्रय देना बेवजह संकट और आफत को न्योता देना था. पहला मार्ग अत्यंत सरल था, दूसरा उतना ही संकटपूर्ण लेकिन मनुष्यता का मार्ग तो दूसरा ही था.

होरी और धनिया कभी भी अपनी मनुष्यता नहीं छोड़ सके. भले बिरादरी-बाहर हो गए, डांड भरना पड़ा- भरा, लेकिन मनुष्य बने रहे. पिछड़ी जाति का किसान मनुष्यता और सहृदयता को कुलीनता से ज्यादा बड़ा मूल्य समझता है. इसकी रक्षा में कुलीनता चली जाए, कोई परवाह नहीं. धनिया दातादीन से आत्मविश्वास और गर्व के साथ कहती है-

'हमको कुल-परतिसठा इतनी प्यारी नहीं महराज, कि उसके पीछे एक जीव की हत्या कर डालते...बड़े आदमियों को अपनी नाक दूसरों की जान से प्यारी होगी, हमें तो अपनी नाक इतनी प्यारी नहीं.'

दूसरा प्रसंग है सिलिया का पंडित मातादीन द्वारा ठुकराया जाना और फिर होरी-धनिया द्वारा उसे अपने घर में आश्रय देना. पंडित मातादीन सिलिया को धोखे में रखकर उसका यौन-शोषण करता है. सिलिया मातादीन से प्रेम करती है, लेकिन मातादीन के लिए सिलिया उसकी यौन तृप्ति के साधन और बेगार मजदूर के अलावा कुछ नहीं है. प्रेमचंद लिखते हैं- 'सिलिया का तन और मन दोनों लेकर भी बदले में कुछ न देना चाहता था. सिलिया अब उसकी निगाह में केवल काम करने की मशीन थी, और कुछ नहीं.'

मातादीन जैसे ब्राह्मण की नैतिकता (?) यह है कि वह सिलिया चमारिन के साथ संभोग तो कर सकता है, मगर वह उसके घर के भीतर नहीं जा सकती, उसके हाथ का छुआ मातादीन कुछ खा नहीं सकता. मातादीन सिलिया से केवल लेता है, बदले में उसे कुछ नहीं देता और उसे छोड़ भी देता है- लाचार, बेसहारा.

पुनः इस अवसर पर सिलिया को आश्रय मिलता है पिछड़ी जाति के किसान होरी के घर में. होरी को सिलिया से कुछ नहीं मिलता है. हां, बिरादरी में बदनामी जरूर होती है लेकिन तब भी उसकी सहृदयता और मनुष्यता का तकाजा यह है कि बेसहारा सिलिया को घर से कैसे निकाल दे !

प्रेमचंद बार-बार पिछड़ी जातियों के किसान पात्रों को ऊंची जातियों के पात्रों के विपरीत मनुष्यता के ऊंचे आसन पर बिठाते हैं. क्या यहां से प्रेमचंद के साहित्य के समाजशास्त्र का कोई वातायन नहीं खुलता [28]

संदर्भ

1. निर्मला जैन, साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन
2. मैनेजर पाण्डेय, साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, पृ.122
3. मैनेजर पाण्डेय, साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, पृ.123
4. आलोचना, अंक-82, 1987
5. मैनेजर पाण्डेय, आलोचना की सामाजिकता, पृ.90
6. पी.सी.जोशी, साखी, अंक-18-19, पृ.156
7. डॉ.भोलाभाई पटेल. भारतीय उपन्यास परंपरा और ग्रामकेन्द्री उपन्यास, पृ.238
8. मैनेजर पाण्डेय, साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, पृ.297

International Journal of Innovative Research in Science, Engineering and Technology

(An ISO 3297: 2007 Certified Organization)

Vol. 4, Issue 12, December 2015

9. डॉ.संजीव महाजन, व्यावहारिक समाजशास्त्र,पृ.76
10. पत्रालाल पटेल, मानवीनी भवाई,पृ.289
11. डा. कमलेश वर्मा, 'प्रेमचंद के किसान, पिछड़ी जातियां और भारतीय संस्कृति' (आलेख), आरोह (पत्रिका), अंक-1, वर्ष- 1, असम विश्वविद्यालय, सिलचर, 2013, पृ.-102
12. प्रेमचंद, गोदान, संजय बुक सेंटर, वाराणसी, 1996, पृ.-198
13. वही, पृ.-199
14. वही, पृ.-12
15. प्रेमचंद, सवा सेर गेहूं (कहानी), मानसरोवर-4, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2001, पृष्ठ-167
16. गोदान, पृष्ठ-5
17. वही, पृ.-32
18. प्रेमचंद, प्रेमाश्रम, मारुति प्रकाशन, मेरठ, पृष्ठ-36
19. वही, पृष्ठ-103
20. वही, पृष्ठ-45
21. गोदान, पृष्ठ-9
22. वही, पृष्ठ-9
23. देखें, वही, पृष्ठ 163-164
24. प्रेमचंद, प्रेमचंद के विचार (भाग-2), प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2008, पृष्ठ-29-30
25. प्रेमचंद, सुजान भगत (कहानी), मानसरोवर-5, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2001, पृष्ठ-164
26. प्रेमचंद, सभ्यता का रहस्य (कहानी), मानसरोवर-4, पृष्ठ- 176
27. डा. कमलेश वर्मा, वही, पृ.-104
28. गोदान, पृष्ठ-98